वैदिक एवं श्रमण-वाङ्मय में नारी-शिक्षा

डॉ. सुनीता कुमारी...
बी.एस.एम.कॉलेज, रुड़की

शिक्षा प्राप्त करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में समाज के सभी सदस्य सहभागी बन सकते हैं। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए, परंतु दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र में विविध प्रकार के भेद किए गए हैं। कभी जन्म के आधार पर, कभी वर्ण के आधार पर, कभी कर्म के आधार पर इस प्रकार के विभिन्न भेद शिक्षा के क्षेत्र में मिल जाते हैं। यद्यपि इन सबके कई कारण बताए जाते हैं, लेकिन आज ये मान्यताएँ लगभग समाप्तप्राय हो गई हैं। आज जो भी व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, वह विविध प्रकार की शिक्षाओं को प्राप्त कर सकता है। नारी-शिक्षा भी आज एक ज्वलंत प्रश्न है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक स्त्रियों ने शिक्षा-जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सभी ने उसकी बुद्धिमत्ता और कुशलता को सराहा है। लेकिन यहाँ ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जहाँ स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने से रोका गया है। उनकी प्रतिभा को दबाकर उनकी भावनाओं को कुण्ठित करने का प्रयत्न हुआ है। इनके चाहे जो भी कारण रहे हों, परंतु सामाजिक सुव्यवस्था हेतु स्त्रियों का शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि वास्तव में स्त्रियों को ही गृहस्थी की सुव्यवस्थित संचालिका एवं समाज की नीति-निर्देशिका होने का गौरव प्राप्त है।

शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा का अर्थ 'सीखना' है। सीखने की यह प्रक्रिया मनुष्य के जन्म लेने से ही प्रारंभ हो जाती है और मृत्युपर्यंत चलती रहती है। उसकी सीखने की यह प्रवृत्ति ही उसे सुसंस्कृत बनाती है और वह नैष्ठिक आचरण की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके व्यक्तित्व का निर्धारक होने के साथ-साथ उसकी सामाजिक अभिवृत्ति का भी परिचय देती है। प्राचीनकाल में भारतीय चिंतकों ने मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति को उसके व्यक्तित्व-निर्माण एवं सामाजिक अभिप्रेरणा का मूल कारण माना है, जिसकी अंतिम परिणति मोक्ष, कैवल्य अथवा ब्रह्म-प्राप्ति है। वस्तुतः शिक्षा का यही वास्तविक स्वरूप है। ब्रह्म वह चरम सत्ता है जिसमें समस्त भासमान जगत् परिव्याप्त है।[१] शिक्षा के द्वारा इस ब्रह्म को प्राप्त कर मनुष्य समस्त संसार को अपने गुणों से परिव्याप्त कर देता है।

मनुष्य के समक्ष लौकिक एवं आध्यात्मिक ये दो प्रकार की आवश्यकताएँ रहती हैं। इन दोनों की सम्यक् पूर्ति करना मनुष्य का धर्म है। शिक्षा मनुष्य को उसके इस धर्म से अवगत कराती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है[२] - ज्ञान (शिक्षा) की प्रतिष्ठा बनाए रखना व्यक्ति का नैतिक धर्म है। स्वाध्याय एवं प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतंत्र बन जाता है। नित्य उसे धन प्राप्त होता है। वह सुख से सोता है। वह अपना परम चिकित्सक बन जाता है। वह इंद्रियों पर संयम रखने की कला से अवगत हो जाता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ती है। वह यश को प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण का यह कथन शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। यहाँ शिक्षा इंद्रियसंयम, यशवृद्धि, प्रज्ञावृद्धि, चित्त-एकाग्र तथा नैतिक धर्म इन सबको प्राप्त कराने की सामर्थ्य से युक्त मानी गई है। इन विविध रूपों में शिक्षा मनुष्य को लौकिक सुख के साथ-साथ आध्यात्मिक सुख भी प्राप्त कराती है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में शिक्षा को धन प्राप्त कराने वाला एवं सुखपूर्वक निद्रा दिलाने वाला भी कहा गया है।

जैन-परंपरा में शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है[३] - शिक्षा मनुष्य को पूर्ण करने वाली कामधेनु है। शिक्षा ही चिंतामणि है। शिक्षा ही धर्म है तथा कामरूप फल से रहित सम्पदाओं की परंपरा उत्पन्न करती है। शिक्षा ही मनुष्य का बंधु है, शिक्षा ही मित्र है, शिक्षा ही कल्याण करने वाली है, शिक्षा ही साथ ले जाने वाला धन है और शिक्षा ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। मनुष्य अपने आप में कभी पूर्ण नहीं हो सकता, लेकिन शिक्षा उसकी अपूर्णता को दूर कर उसे पूर्ण बनाती है। मनुष्य के समक्ष विविध प्रकार की समस्याएँ रहती हैं, जिन्हें वह हल नहीं कर पाता है। परंतु शिक्षा उसे एक ऐसा माध्यम प्रदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती है, जिसकी सहायता से वह अपने मनोरथों को पूर्ण करता है। मनोरथों का जाल बहुत घना है। आसक्ति इसे और भी कठिन बना सकती है। शिक्षा मनुष्य को इसका बोध कराती है और व्यक्ति अनासक्त भाव से अपने प्रयोजनों को पूर्ण करता है। उसकी यही अनासक्ति कामरूप फल से रहित सम्पदाओं की परंपरा उत्पन्न करती है।

शिक्षा एक सामाजिक संविदा है। यह मनुष्य को समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं से अवगत कराती है। यह मनुष्य की मानसिक जिज्ञासाओं को शांत रखने का मार्ग सुलभ कराती है। जिन पर चलकर वह विविध प्रकार के कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करता है। वह जितना ही अधिक इस दिशा में अग्रसर होता है, उतना ही अधिक सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करता जाता है। शिक्षा के कारण उसके अंतर्मन के चक्षु इतने अधिक विकसित हो जाते हैं, कि वह विभिन्न प्रकार के रहस्यों को उद्‌घाटित करने लगता है। महाभारत में कहा भी गया है कि शिक्षा के समान कोई तीक्ष्ण चक्षु नहीं है।[४] शिक्षा की यह तीक्ष्णता ही उसकी शक्ति है। उसकी शक्ति की इस परिधि से संसार का कोई भी तत्त्व बाहर नहीं जा सकता। सम्पूर्ण तत्त्वों का दिग्दर्शन शिक्षा के द्वारा संभव है। इसीलिए ज्ञान (शिक्षा) को मनुष्य का तृतीय नेत्र कहा जाता है, जो सभी प्रकार के तत्त्वों के दिग्दर्शन की क्षमता रखता है।[५] ज्ञान (शिक्षा) व्यक्ति में शक्ति का संचार करता है, जिसकी सहायता से वह यथार्थ-अयथार्थ, सम्यक् असम्यक् तत्त्वों के स्वरूप से अवगत होता है। वह इस स्तर पर अपने को प्रतिष्ठापित कर लेता है कि हेय-उपादेय के बीच अंतर स्थापित कर सके।

प्रकाश और अंधकार मानव जीवन के दो विरोधी पक्ष हैं। प्रायः मनुष्य प्रकाश को ही अपनाना चाहता है। अंधकार को अज्ञान अथवा अशिक्षा का पर्याय माना गया है। शिक्षा के द्वारा अज्ञानरूपी इस अंधकार को मिटाया जा सकता है। इसीलिए बहुधा यह कहा गया है कि मनुष्य को शिक्षा रूपी प्रकाश से युक्त होना चाहिए। शिक्षा का यह प्रकाश मानव-जीवन में मूलभूत परिवर्तन ला सकता है। वह उसे चरमपद पर आरूढ़ करा सकता है। आत्म-साक्षात्कार करा सकता है। दशवैकालिक में कहा गया है[६]-- आत्मा को धर्म में स्थापित करने के लिए अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन शिक्षा का अविभाज्य अंग है। बिना अध्ययन किए शिक्षा की प्राप्ति शायद ही संभव हो। चाहे यह पारंपरिक विधि से ग्रहण किया गया हो अथवा गैर परंपरागत विधि से। आत्मा को धर्म में स्थित किए बिना आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं है। आत्म-साक्षात्कार किए बिना चरमपद भी नहीं पाया जा सकता है। अतः अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने और चरमपद की अभिलाषा रखने वालों को शिक्षा रूपी प्रकाश से युक्त होना चाहिए।

यहाँ चरमपद से हमारा तात्पर्य मनुष्य की उस अवस्था से है, जहाँ वह, पूर्ण ज्ञानी है। अतः उसे समस्त प्रकार के बोधों से युक्त होना चाहिए। वह परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार करने की अवस्था से युक्त हो। इस रूप में शिक्षा का व्यापक अर्थ माना जाता है तथा इसकी एक विशेष विधि भी मान्य की गई है। यह विधि है श्रवण, मनन और निर्विध्यासन । इस विधि को अपनाकर व्यक्ति पूर्ण बोध से युक्त हो जाता है। वह परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार करने लगता है। वह अपने स्वरूप में रमण करने लगता है। वह आत्मधर्म की अवस्था से अवगत होने लगता है। उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है? वह कौन है? आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के समाधान की ओर अग्रसर होता है। थोड़े शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा का एक रूप मनुष्य को उसके परम लक्ष्य या ध्येय से अवगत कराना भी है।

उपर्युक्त चिंतन शिक्षा के विविध रूपों को स्पष्ट करता है, जो इसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालता है। शिक्षा के निम्न लिखित स्वरूप हो सकते हैं--१. मूल्यों और सामाजिक मान्यताओं का निर्धारण करने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया, २. मनुष्य को उसके कर्त्तव्यों से अवगत कराने वाली एक विधि, ३. अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर विविध प्रकार के कला, कौशल, विज्ञान एवं तकनीक से मनुष्य को समृद्ध करने वाली क्रिया, ४. मनुष्य को सांसारिक वैभव, सुख-समृद्धि प्रदान कराने वाली प्रक्रिया, ५. मनुष्य के अंतः और बाह्य व्यक्तित्व का निर्माण, ६. आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाली क्रियाएँ, ७. मनुष्य को आत्मस्वरूप में स्थित करना, ८. परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार कराना आदि। प्रत्येक रूप में शिक्षा मनुष्य के लिए अत्यंत उपयोगी है, जिसका मुख्य प्रयोजन मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक सुख प्रदान करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा का साधन

शिक्षा एक प्रक्रिया है, जो ग्रहण की जाती है। ग्रहण करने की प्रक्रिया शिशु के जन्म से प्रारंभ होकर मृत्युपर्यंत चलती रहती है। शिक्षा के साथ भी यही होता है। बालक किसी कुल या परिवार में जन्म लेता है और वही परिवार उसकी प्रथम या प्रारंभिक शिक्षाशाला होती है। शिक्षा का प्रारंभिक ज्ञान परिवार में प्राप्त करने के बाद एक विशेष काल में शिशु बाह्य जगत् में बनी हुई विभिन्न शालाओं में प्रवेश लेकर विविध प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करता है। प्राचीन काल में शिक्षा की मौखिक परंपरा चला करती थी और विद्यार्थी स्मृति के आधार पर शिक्षा ग्रहण करते थे। वैदिक युग में ऋषिकुल की परंपरा थी और ऋषिगण अपने पुत्रों को मौखिक शिक्षा दिया करते थे। शिक्षा की यह परंपरा पारिवारिक संस्था के रूप में स्थापित थी।[७]

पारिवारिक शिक्षा-दान की यह परंपरा बहुत काल तक चलती रही। बाद में यज्ञ-विधानों तथा इसी तरह की अन्य जटिलताओं के कारण गुरुकुलों की स्थापना हुई। इनमें ऋषि - पुत्रों के साथ-साथ समाज के अन्य लोग भी शिक्षा ग्रहण करने लगे।[८] इन गुरुकुलों में शास्त्रीय शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक दायित्व का भी ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता था। यद्यपि गुरुकुलों में बालकों को ही शिक्षा दी जाती थी, परंतु यहाँ कन्याएँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। वे विद्याग्रहण करने के साथ-साथ शास्त्रों की भी रचना किया करती थीं। इस अनुक्रम में विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा आदि विश्वविश्रुत नारियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने वैदिक (ऋग्वेद) मंत्रों की रचना की थी।[९] शास्त्र-रचना के साथ-साथ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य भी किया करती थीं। अध्ययन-कार्य में रत रहने वाली इन स्त्रियों को उपाध्याया कहा जाता था। ये स्त्रियाँ स्त्रीशालाओं का संचालन किया करती थीं, जिनमें बालिकाएँ विविध प्रकार की शिक्षा ग्रहण करती थीं।[१०]

वैदिक परंपरा की भाँति श्रमण-परंपरा में भी शिक्षा की मौखिक विधि ही स्वीकृति थी। यहाँ भी शिक्षा का हस्तांतरण पारिवारिक एवं पारम्परिक रूप में चलता था। ओघनिर्युक्ति में यह उल्लेख मिलता है कि एक वैद्य अपनी मृत्यु के पूर्व वैद्यक विद्या अपनी पुत्री को सिखा गया था।[११] श्रमण-परंपरा में भिक्षुणी-संघ एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इस संघ में अनाश्रिता स्त्री, अनगार अवस्था को प्राप्त करने को इच्छुक नारी तथा सांसारिक जीवन की दुःखमयता के कारण इससे त्राण पाने वाली महिलाओं को प्रवेश दिया जाता था। ऐसी स्त्रियों को यहाँ शास्त्रीय शिक्षा का ज्ञान प्रदान कराया जाता था। इस संघ में प्रवेश की अनिच्छुक स्त्रियों को नियमित शास्त्रीय शिक्षा नहीं दी जाती थी।[१२] तात्पर्य यह है कि श्रमणपरंपरा में प्रायः उन्हीं स्त्रियों को शास्त्रीय शिक्षा दी जाती थी जो सांसारिक अवस्था को त्यागकर संन्यासमय जीवन को अपना लेती थीं या अपनाने को उद्यत रहती थीं।

स्त्रियों के शिक्षा ग्रहण करने के संबंध में वैदिक परंपरा में श्रमण-परंपरा की इन विधियों का अनुपालन नहीं होता था। यहाँ स्त्रियाँ एक ही अवस्था में संसारिक एवं शास्त्रीय दोनों शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं। यहाँ स्त्रियाँ-सद्योवधु एवं ब्रह्मवादिनी इन दो रूपों में शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं। सद्योवधु विवाह के पूर्व वैवाहिक जीवन की आवश्यकतानुसार कुछ मंत्रों का अध्ययन कर लेती थी, जबकि ब्रह्मवादिनी अपनी शिक्षा को पूर्ण करके ही विवाह करती थी। यंज्ञवल्क्य ऋषि की दो पत्नियाँ थीं-मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी जहाँ ब्रह्मवादिनी थी वहीं कात्यायनी गृहस्थधर्मा।[१३] यहाँ वैदिक और श्रमण परंपरा का अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्रमणपरंपरा में जहाँ संन्यास मार्ग की ओर प्रवृत्त स्त्री को शास्त्रीय शिक्षा देने का प्रावधान है, वहीं वैदिक परंपरा में गृहस्थ और पारिवारिक जीवन बिताने वाली स्त्री भी शास्त्रीय शिक्षा से युक्त होती है।

वैदिक परंपरा में स्त्रियों को पारिवारिक संस्था के साथ-साथ गुरुकुलों में भेजकर शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। प्रायः इसे एक आवश्यक कार्य माना जाता था। लेकिन श्रमण -परंपरा में विशेषरूप से बौद्ध युग के प्रारंभिक काल तक नारी शिक्षा का प्रचलन समाप्तप्राय हो गया था।[१४] स्त्री को विवाह के पूर्व और पश्चात् केवल कुशल गृहिणी बनने की ही शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रधान कारण यह था कि उस काल में स्त्रियों को दी जाने वाली शास्त्रीय शिक्षा निरर्थक समझी जाती थी।[१५] प्रायः संन्यास-मार्ग की ओर प्रवृत्त तथा भिक्षुणी बनने वाली स्त्रियों को ही भिक्षुणी-संघ में शास्त्रोचित ज्ञान दिया जाता था। श्रमण-साहित्य में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ इस बात का उल्लेख किया गया है कि वैदिक परंपरा की भाँति श्रमण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंपरा में भी स्त्रियां गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करती थीं।

शिक्षण-विधि

शिक्षा प्राप्त की जाती है और इसे प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की विधि अपनाई जाती है। शिक्षण-विधि में लेखन और मौखिकी दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ स्वीकृत हैं। लेखन अथवा मौखिकी दोनों में ही भाषा का प्रयोग होता है। प्राचीनकाल में जब लेखन-कला का अविष्कार नहीं हो पाया था, वैदिक एवं श्रमण दोनों ही परंपराओं में मौखिक विधि का प्रयोग किया जाता था। शिक्षण-विधि स्मृति पर आधारित थी। भाषा के प्रयोग के रूप में जहाँ वैदिक परंपरा में प्राय: संस्कृतनिष्ठ शब्दों का उपयोग होता था वहीं श्रमण-परंपरा में लोकभाषा (प्राकृत, पालि आदि) अपनाई जाती थी। लेखन-कला का अविष्कार होने के बाद भी यही परंपरा चलती रही। परिणामस्वरूप वैदिक परंपरा का अधिसंख्य साहित्य संस्कृत भाषा में निबद्ध है, जबकि श्रमण-परंपरा के ग्रंथ प्राकृत और पाली भाषा में मिलते हैं। बाद में श्रमण-ग्रंथ भी संस्कृत भाषा में रचे गए, लेकिन उसे श्रमण-साहित्य पर वैदिकों का प्रभाव ही माना जा सकता है।

प्राचीन काल में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसलिए उसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था आसानी से याद किया जा सके। बात को अति संक्षिप्त और सूत्ररूप में प्रस्तुत किया जाता था। ताकि उसे उसी रूप में स्मृति में रखा जा सके। यही कारण है कि प्रारंभिक साहित्य, मंत्र, सूत्र आदि संक्षिप्त रूप में मिलते हैं। विषयों को कथाओं के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता था, जिसके कारण मूल तत्त्वों को कथा-प्रसंगों के साथ याद रखना अधिक सुगम होता था। विषय-वस्तुओं को लौकिक दृष्टांतों अथवा जीवन के प्रसंगों के साथ तुलना करके प्रतिपादित किया जाता था। अत: बाद के ग्रन्थ विवरणात्मक शैली में रचे गए जिनमें सूत्रों की व्याख्या, कथानकों और दृष्टांतों के प्रयोग आदि होते थे।

प्राय: प्राचीन काल में दोनों ही परंपराओं में उपदेशमूलक शिक्षण-पद्धति स्वीकार की जाती थी। परंतु दोनों की विधियों में अंतर था। वैदिकों ने शब्दों को यथावत् रूप में स्वीकार किया जबकि श्रमण-परंपरा में शब्दों की जगह अर्थ को प्रधान माना गया। यही कारण है कि आज भी वैदिक साहित्य अपने मूल रूप में उपलब्ध हो जाता है, जबकि श्रमणग्रंथों में पाठभेद मिलता है। इसके पीछे प्रमुख कारण माना जा सकता है--श्रमण-परंपरा में लोकभाषा का प्रयोग। लोकभाषा स्थान-स्थान पर परिवर्तनीय रही है। फलस्वरूप श्रमण-परंपरा के ग्रंथ इस परिवर्तन से प्रभावित हुए और उनमें पर्याप्त पाठभेद मिलता है। यही पाठभेद श्रमण-साहित्य की अपनी विशेषता है जो उसे तत्कालिक लोकभाषा का प्रतिनिधित्व करने का गौरव प्रदान करती है।

उपर्युक्त चिंतन के आधार पर हम प्राचीन शिक्षण-विधि के विविध प्रतिरूपों तथा अपनाई जाने वाली भाषाओं को निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं--

* मौखिक एवं स्मृति-आधारित शिक्षा व्यवस्था
* सूत्रात्मक शैली
* कथा एवं दृष्टान्त-विधि
* उपदेशमूलक शिक्षा
* संस्कृत एवं
* लोकभाषा (पाली, प्राकृत आदि)

सहशिक्षा

शिक्षा शालाओं में ग्रहण की जाती है और इसे बालक एवं बालिकाएँ दोनों प्राप्त करते हैं। अतएव हमारे समक्ष इसके लिए एक व्यवस्था बनाने की समस्या आती है और इसके तीन संभावित प्रारूप हो सकते हैं--१. पुरुष-शिक्षा-शाला, २. स्त्री-शिक्षा-शाला और ३. मित्र-शिक्षा-शाला। शिक्षा-शालाओं की ये तीनों ही व्यवस्थाएँ आज मान्य हैं। वैदिक एवं श्रमण-परंपरा में शिक्षा शालाओं की क्या व्यवस्था थी? क्या आज की ही भाँति उस काल में भी यही तीनों व्यवस्थाएँ मान्य थीं अथवा कुछ और व्यवस्था स्वीकृत थी, आदि प्रश्नों पर विचार करना है।

सहशिक्षा से हमारा तात्पर्य शिक्षा-प्राप्ति की उस व्यवस्था से है, जहाँ स्त्री-पुरुष एक साथ शिक्षा ग्रहण करते हों। सहशिक्षा की यह व्यवस्था प्राचीनकाल में भी मान्य थी और आज भी प्रचलति है। कुछ चिंतकों ने इसे श्रेष्ठ माना है, जबकि कतिपय विद्वानों की दृष्टि में यह उचित नहीं है। उनके मतानुसार सहशिक्षा बालक-बालिकाओं के संस्कार को विकृत कर देती है। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मत है कि शिक्षा की यह व्यवस्था छात्रों को शिक्षा-प्राप्ति के मूल उद्देश्यों से विरत कर देती है। वे विपरीत-लिंगों के सामान्य आकर्षण में बँध जाते हैं। वे संस्कारों को ग्रहण करने की अपेक्षा कुसंस्कारों से अधिक आबद्ध हो जाते हैं। इसे पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता है। कुछ आपवादिक उदाहरणों को छोड़कर बहुसंख्य प्रतिभाओं को सहशिक्षा की ही देन माना जा सकता है।

गुरुकुल जिन्हें प्राचीन काल में शिक्षा देने वाली प्रमुख संस्था का गौरव प्राप्त है, प्रायः बालकों को ही प्रवेश मिलता था। नारी-जाति में जन्म लेना यहाँ प्रवेश से वंचित रहने की एकमात्र अयोग्यता थी। लेकिन बाद में इस दिशा में मूलभूत परिवर्तन हुए और कन्याओं का भी प्रवेश गुरुकुलों में होने लगा। यहीं से सहशिक्षा रूपी शाला का प्रारंभ माना गया। वैदिक वाङ्मय में सहशिक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए आचार्य भवभूतिकृत उत्तररामचरित का दृष्टांत प्रस्तुत किया जा सकता है। वाल्मीकि-आश्रम में आत्रेयी लव-कुश के साथ शिक्षा प्राप्त करती थी। बाद में वह अगस्त्य मुनि के आश्रम में शिक्षा-ग्रहण हेतु प्रवेश लेती है।[१७] दो मुनियों के आश्रमों में स्त्री जाति को जिस प्रकार शिक्षा दी जा रही है वह सहशिक्षा की उत्तम व्यवस्था की सूचक अवश्य मानी जा सकती है।

जहाँ तक श्रमण-परंपरा की बात है तो यहाँ वैदिक-परंपरा की तरह स्त्रियों को शिक्षित नहीं किया जाता था। प्रायः कन्याओं को गृहस्थी संबंधी शिक्षा का ज्ञान कराया जाता था, जिसे वे अपने परिवार में सीख लेती थीं। यहाँ प्रायः कन्या से यही अपेक्षा की जाती थी कि वह गार्हस्थ-शिक्षा में निपुणता प्राप्त कर ले। शास्त्रीय शिक्षा को उनके जीवन में विशेषकर लौकिक जीवन में कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। लेकिन -श्रमण परंपरा में गुरुकुल जैसी व्यवस्था का प्रारंभ हो जाने के बाद वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं का उल्लेख हमारे समक्ष इस परंपरा में स्वीकृत सहशिक्षा-व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करता है [१८]।

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसके विविध रूप भी हैं। शिल्पज्ञान, नृत्यज्ञान, चिकित्सा-विद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मज्ञान आदि रूपों में शिक्षा की विभिन्न कोटियाँ हैं। परंतु अगर स्थूल रूप में शिक्षा को वर्गीकृत किया जाए तो यह दो रूपों में विभाजित होगी। प्रथम लौकिक अथवा व्यवहारिक शिक्षा और द्वितीय आध्यात्मिक शिक्षा। शिल्प, नृत्य, गायन, वादन, चिकित्सा आदि लौकिक शिक्षा है, जबकि तत्त्वज्ञान, आत्मविद्या, ईश्वरमीमांसा आदि आध्यात्मिक शिक्षा है। मनुष्य के लिए ये दोनों ही आवश्यक हैं। जहाँ लौकिक शिक्षा मनुष्य की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है, वहीं आध्यात्मिक शिक्षा मनुष्य को परम उपादेय के संबंध में बताती है। एक सांसारिक सुख एवं यश प्रदान करती है तो दूसरी पारलौकिक सुख प्राप्ति का साधन बनती है। भारतीय परंपरा में शिक्षा का यही उत्स माना गया है।

शिक्षा चाहे व्यवहारिक हो अथवा आध्यात्मिक दोनों के लिए व्यक्ति को स्वयं प्रयास करना पड़ता है। आध्यात्मिक शिक्षा के लिए संयमित आचरण तथा कर्मबंधनों को अल्प करने वाली विशेष प्रकार की क्रियाओं का आश्रय लिया जाता है। दूसरी तरफ व्यवहारिक शिक्षा के फिर विविध प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं, जो प्रायः कर्मबंधनों को दृढ़ करते हैं। इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति में व्यक्ति स्वार्थ एवं कषाय से ग्रस्त हो सकता है। इन प्रवृत्तियों से मुक्त रखने के लिए व्यक्ति को आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती है जिसके आधार पर समाज में एक नैतिक व्यवस्था का निर्माण होता है। यह नैतिक व्यवस्था समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है और इस पर आरूढ़ होकर व्यक्ति लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुखों का उपभोग करने की क्षमता प्राप्त करता है।

गार्हस्थ्य, ललितकला, नृत्यकला, चित्रकला, गायन, वादन, शिल्प, राजनीति, वैद्यक आदि जीवनोपयोगी शिक्षाओं को व्यावहारिक शिक्षा कहा जाता है। मनुष्य के लिए ये महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। स्त्रियों की भागीदारी शिक्षा के विविध क्षेत्रों में रही है। गार्हस्थ शिक्षा स्त्रियाँ अपने परिवार में सीखती थीं। ऋग्वेद में यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्रियाँ (कन्याएँ) माता के साथ गृहकार्य में हाथ बँटाने के साथ-साथ पिता के साथ कृषि कार्य में भी सहभागी बनती थीं [१९]। व्यवहारिक शिक्षा का मुख्य प्रयोजन लौकिक सुख उपलब्ध कराना ही माना जाता था। शरीर को स्वस्थ रखना भी एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शिक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org